मई १९९६ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

बुद्ध जयन्ती

वैशाख पूर्णिमा

(यह लेख २८ वर्ष पूर्व पूज्य गुरुजी द्वारा म्यंमा(बर्मा) से भारत आने के पूर्व वर्ष १९६८ की वैशाख पूर्णिमा पर लिखा गया था जो वहां की "ब्रह्म भारती" नामक मासिक पत्रिका में छपा और 'आल बर्मा हिंदू सेंट्रल बोर्ड' रंगून द्वारा पुनः पत्रक के रूप में छपवाकर वितरित किया गया था। आज की वैशाख पूर्णिमा पर साधकों के लाभार्थ पुनः प्रकाशित। सं.)

आज वैशाख पूर्णिमा है। २५९२ वर्ष पूर्व इसी दिन आधुनिक नेपाल के लुंबिनी वन-प्रदेश में राजकुमार सिद्धार्थ गौतम का जन्म हुआ था। ३५ वर्ष अनंतर इसी वैशाख पूर्णिमा के दिन विरक्त राजकुमार ने गया-प्रदेश में बोधिवृक्ष के नीचे सम्यक संबोधि प्राप्त की थी।

क्या थी वह सम्यक संबोधि, जिसे प्राप्त कर राजकुमार सिद्धार्थ भगवान बुद्ध बना? कैसा था वह बुद्ध-ज्ञान, जिसने मानवी अध्यात्म-दर्शन को नयी ऊंचाइयां प्रदान की?

***

बोधि प्राप्त करते हुए भगवान ने देखा – यह अविद्या है, "मैं" और "मेरे" का मिथ्या आत्मवादी अहंभाव है – यही अज्ञान है। इसी के कारण संस्कार बनते हैं और जहां संस्कार हैं, वहां चैतन्य है। यह चैतन्य ही है जिसके कारण चित्त और काया के संयोग द्वारा जीवन की एक अजस्र धारा प्रवाहित होती है। जहां काया और चित्त का संयोग है, वहां आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन – ये छह इंद्रियां हैं और इन इंद्रियों के छह विषय हैं – रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य और मनोविकार। जैसे ही इन इंद्रियों का अपने विषयों से स्पर्श होता है, वैसे ही अनुभूति होती है। इसी अनुभूति के कारण विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। यही तृष्णा है। (द्वेष इसी सिक्के का दूसरा पहलू है।) यह तृष्णा ही बढ़ कर तीव्र लालसा का रूप धारण कर लेती है और इस लालसा की पूर्ति के लिए ही भिन्न-भिन्न मानसिक, कायिक और वाचिक कर्म होते हैं, जो स्वानुकूल कर्म-भव के कारण बनते हैं। इसी कर्म-भव से जन्म होता है। और जन्म होता है तो जरा, व्याधि और मृत्यु अवश्यंभावी है। इस प्रकार अविद्या और तृष्णा के कारण दुःखों का अपार समूह उठ खड़ा होता है।

***

तो भगवान ने देखा – यह दुःख है और इस दुःख के उत्पन्न होने का कारण है। परंतु निराशा की कोई बात नहीं। इस दुःख का निरोध भी है। निरोध का एक उपाय है, एक मार्ग है। यही है आर्य अष्टांगिक मार्ग! कैसा है यह आर्य अष्टांगिक मार्ग?

***

इस आठ अंग वाले मार्ग को हम तीन खंडो में विभक्त कर सकते हैं। पहला **शील-खंड** है। इसके अंतर्गत सम्मावाचा, सम्माकम्मन्तो और सम्माआजीवो आते हैं। शील का अर्थ हुआ – सदाचारमय जीवन। काया और वाणी से किसी प्रकार का भी दुराचरण न करना ही शील है। दूसरा **समाधि-खंड** है। इसके अंतर्गत सम्मावायामो, सम्मासति और सम्मासमाधि आते हैं। याने सतत अभ्यास द्वारा चंचल चित्त को किसी एक आलंबन पर केंद्रित कर स्थिर-शांत कर देना; एकाग्र-चित्त हो जाना ही समाधि है। तीसरा **प्रज्ञा-खंड** है। इसके अंतर्गत सम्मासङ्कप्पो और सम्मादिट्ठि आते हैं। यह ज्ञान-खंड है। शुभ संकल्प द्वारा विपश्यना साधना के अभ्यास से प्रज्ञा जाग्रत होती है, अंतर्चक्षु खुलते हैं। साधक सचेत रह कर अध्यात्म-साक्षात्कार करता है। सत्य का सूक्ष्म निरीक्षण विश्लेषण करता है। काया और चित्त का निरीक्षण-विश्लेषण, आंतरिक अनुभूतियों का और प्रकृति के सत्य स्वभाव का निरीक्षण-विश्लेषण करता है। इसी विपश्यना द्वारा स्वतः स्पष्ट अनुभव होने लगता है कि इंद्रिय जगत के सारे विषय प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं, अतः अनित्य हैं और ऊपर से सुखदायी प्रतीत होते हुए भी स्वभाव से दुःखमय हैं। वे निस्सार हैं। 'मैं' और 'मेरा' कहलाने लायक नहीं हैं। अतः अनात्म हैं। इस प्रकार इसी साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर इंद्रिय जगत की अनुभूतियों का दिग्दर्शन करते हुए चित्त वितृष्ण और अनासक्त होता है, अविद्या की कड़ियां टूटती हैं और परिणामतः इंद्रियातीत अवस्था प्राप्त होती है। यही निर्वाण है, जो नित्य है, शाश्वत है और परम सुख है। इसका साक्षात्कार ही दुःख-निरोध है, साधना की सिद्धि है। यही मार्ग है। यही मार्ग का फल है।

***

स्पष्ट है कि सतृष्ण चित्त ही दुःख का जनक है और वितृष्ण चित्त ही दुःख-निरोध है। अतः दुःख-मुक्त होना है तो चित्त को वितृष्ण कर निर्मल बनाना ही होगा क्योंकि मन ही प्रधान है। मन ही प्रमुख है। दुःख-प्रजनन और दुःख-भंजन के मूल में मन की ही विशिष्ट महत्ता है। जब दुःखरूपी रोग का निदान हो गया तो रोग के बाहरी उपचारों को महत्त्व देना व्यर्थ है। सीधे रोग की जड़ पर ही प्रहार करना होगा। मन को पकड़ना होगा, उसे ही बदलना होगा, उसे ही सुधारना होगा। यह काम बाहरी कर्मकांडोंसे कदापि न हो सकेगा। न ही किसी देव-ब्रह्मा की कृपादृष्टि से अथवा वरदान-प्रसाद से हो सकेगा। इसके लिए तो स्वयं सतत अभ्यास करना होगा। ऐसी विधि अपनानी होगी जो सीधे मन से संबंध रखती हो। और यही विपश्यना विधि है। यही धर्म-सिद्धांत का व्यावहारिक पक्ष है। अतः भगवान ने इसी पर अधिक बल दिया। यह व्यावहारिक पक्ष ही है जो कि सद्धर्म को 'सांदृष्टिक' याने स्वयं प्रत्यक्ष देखने योग्य बनाता है। यही इसे 'अकालिक' याने तत्काल फलदायी बनाता है। साधक स्वयं यहीं, इसी जन्म में, इसी काया के भीतर विमुक्ति-रस का आस्वादन करता है – अपने ही सत्प्रयत्नों द्वारा, किसी बाह्य शक्ति के भरोसे नहीं।

***

हमारे उत्थान और पतन के कारण हम स्वयं हैं, बंधन और मोक्ष के कारण हम स्वयं हैं। इस समय हम जो कुछ हैं, अपने ही

कर्मोंके परिणाम-पुंज हैं। भविष्य में जो कुछ बनेंगे, अपने ही कारण बनेंगे। वर्तमान कर्मोंपर और भावी गति पर हमारा अपना अधिकार है। हमने स्वयं जो उलझन पैदा की है, उसे हमें ही सुलझाना होगा। यह काम किसी बाह्य शक्ति के भरोसे होने वाला नहीं है।

***

पैंतीस वर्ष की अवस्था में सम्यक संबोधि प्राप्त कर आगामी पैंतालीस वर्ष तक भगवान इसी 'सांदृष्टिक' और 'अकालिक' धर्म की शिक्षा में निरत रहे। लाखों करोड़ों मानवों की मिथ्या-दृष्टियां दूर की, थोथी रूढ़ियों और परंपराओं की पोल खोली, निस्सार मान्यताओं का उच्छेदन किया और मानव के भीतर समाये हुए उस असीम सामर्थ्य को जाग्रत किया, जिससे कि वह अपने पांव पर स्वयं खड़ा हो सके और नासमझी में लगायी हुई बैसाखियां तोड़ कर फेंक सके। तीर्थ-स्नान, व्रत-उपवास, वेश-भूषा, पूजा-पाठ, प्रार्थना-प्रशंसा, अनुनय-विनय आदि बाह्य कर्मकांडोंको ही मुक्ति का साधन मान बैठने वाले बहिर्मुखी मानव को उन्होंने अंतर्मुखी बनाया। चित्त को विरज-विमल बना कर सीधे सही रास्ते पर चल सकने वाला ऐसा सहज-सरल तरीका बतलाया, जिससे कि मनुष्य अपना अनुशासन स्वयं कर सके, अपना मुक्तिदाता स्वयं बन सके। इस प्रकार किसी भी बाह्य शक्ति पर आश्रित न रह कर मानव को स्वयं अपनी महानता के पथ पर अग्रसर हो सकने का संबल प्रदान किया, आत्म-निर्भरता और आत्म-विश्वास प्रदान किया, आत्मशरण और धर्मशरण की अनन्यता प्रदान की।

मानव जगत को यही अमूल्य विरासत प्रदान करते हुए जीवन के ८० वर्ष पूरे कर २५४० वर्ष पूर्व आज ही के दिन भगवान बुद्ध परिनिवृत्त हुए। अतः वैशाख पूर्णिमा का यह पावन दिवस त्रिधा धन्य हुआ।

मंगल मित्र,
स. ना. गो.

साधकों के उद्गार

पूना की यशोदा अवचट जो कि एक कामर्शियल आर्टिस्ट हैं और पूना की एक प्रसिद्ध 'मुक्तांगण व्यसनमुक्ति केंद्र' में काम करती हैं, लिखती हैं, "विपश्यना साधना से मुझे बहुत बड़ा अविस्मरणीय लाभ हुआ। मुझे 'एपिलेप्सी' की बीमारी है पर बहुत कम प्रमाण में। कभी-कभी एक-दो मिनट के लिए चेतनाशून्य (अनकांसस) हो जाती हूं, पर दूसरे किसी को इसका पता भी नहीं चलता। परंतु उस समय और उसके बाद भी पांच मिनट तक किसी से बात नहीं कर सकती। महीने में तीन चार बार ऐसा अटैक आ जाता था।

मैंने गत नवंबर-९५ में इगतपुरी में दस दिवसीय शिविर किया। उसके बाद मेरा आत्मविश्वास बहुत मजबूत हुआ और मैं नियमित साधना करने लगी। पूना में होने वाले एक दिवसीय शिविरों में भाग लेती रही और फरवरी, ९६ में औरंगाबाद के शिविरि में मैंने सेवा भी दी। वहीं पर एक दिन अधिष्ठान के समय मुझे 'एपिलेप्सी' की शिकायत महसूस होने लगी। इसकी पूर्व सूचना के रूप में मुझे गले में चींटिया चलने की-सी अनुभूति होती है। संयोग से साधना के दौरान जैसे ही यह संवेदना आरंभ हुई, पूज्य गुरुजी के निर्देश चल रहे थे – 'अपनी संवेदनाओं को तटस्थ भाव से देखें...'। मैं भी गले में होने वाली इस संवेदना को तटस्थ भाव से देखने लगी और आश्चर्य तब हुआ जब देखा कि ये संवेदनाएं पिघल गयीं और संभावित अटैक आया ही नहीं।

दो-तीन दिन बाद साधना करते समय ही पुनः यह पूर्वाभास वाली अनुभूति होने लगी और उसको मैंने साक्षीभाव से देखना आरंभ कर दिया। इस बार भी अटैक नहीं आया। मेरी प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं रही। फिर भी एक शंका बनी रही कि अभी तो दोनों समय पहले से साधनारत थी, शायद इसीलिए इसका लाभ मिला हो और अटैक से बच गयी होऊं। पर इसका उत्तर भी मुझे शीघ्र मिल गया। मैं बस में यात्रा कर रही थी कि अटैक वाले पूर्वाभास की अनुभूति आरंभ हुई। जब गले में चींटियां-सी चलने लगीं तो उस समय भी समता खोये बिना मैं साक्षीभाव से उन संवेदनाओं को खुली आंखों देखने लगी। मैंने पाया कि थोड़ी देर में ही संवेदनाएं पिघल गयीं और अटैक नहीं आया। मेरा प्रवास सुखद रहा। मुझे बहुत आनंद आया।

विपश्यना द्वारा हमारी समस्याओं का सामना करने का सही तरीका समझ में आ गया। विपश्यना की यह वैज्ञानिक पद्धति सचमुच जीवन जीने की कला है। इससे मुझे एक नयी दिशा मिली और मैं धन्य हुई। पूज्य गुरुदेव और उनके सहायक आचार्यों के प्रति अत्यंत कृतज्ञ हूं। इसी प्रकार सब का मंगल हो!"

● कोवूर, कर्नाटक से 'रेकी' अध्यापिका उमा रमन लिखती हैं, "हैदराबाद में ८ से १९ नवंबर, ९५ के शिविर में सम्मिलित होकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि मैं भारत जैसे महान देश में पैदा हुई जहां आत्म उन्नति के लिए ऐसे मार्ग और मार्गदर्शक पाये जाते हैं।

मुझे लगा कि हर इंसान जैसे जीवन में एक बार बद्री-कैलाश आदि के दर्शन का प्रयास करता है वैसे ही उसे विपश्यना करने का प्रयास करना चाहिए।...

आश्रम में दस दिन तो ऐसे बीते जैसे गृहिणी का अपने मायके जाने पर समय आरामपूर्वक बीतता है। कोई काम नहीं, चिंता नहीं। समय पर खाना-सोना और ध्यान करना। सच कहूं तो मायके जाने पर इतना सुख कहां, जितना आप के आश्रम जाने पर मिला। शरीर, मन सब को पूरा विश्राम मिला।

एक पुराना गीत याद आता है – 'लागा चुनरी में दाग छुपाऊं कैसे? घर जाऊं कैसे? ...' पर विपश्यना करने के बाद लगता है कि चुनरी में लगे दाग को अब बहुत आसानी से यहीं ससुराल में ही धो सकते हैं। दस दिन विपश्यना के ड्राई-क्लीनिंग में बॉडी-माइंड को रख दें तो आराम से दाग छूट जायेंगे। बिना मायूसी के बाबुल के घर खुशी-खुशी (मौत होने पर) जा सकते हैं, बाबुल से नजर मिला सकते हैं। आत्मग्लानि का सवाल नहीं, दाग छुपाने का झंझट नहीं।...

विपश्यना का ऐसा लाभ सब को प्राप्त हो!"

● पूना से श्रीमती राधा गोपाल राम लिखती हैं, "आप और

विपश्यना विद्या के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। ढाई वर्ष के अंदर ही पति और पुत्र दोनों से बिछोह हो जाने के कारण मैं अत्यधिक दुःखी और निराश हो गयी थी। ऐसे समय मेरी बेटी के मित्र डॉ. रोही ने विपश्यना के बारे में बताया और मैं शिविर में चली आयी। यहां मुझे जो चाहिए था वही मिला। मन की सफाई और शांति की यह प्रक्रिया अँधेरे में प्रकाश की किरण बनकर आयी। मैंने अनुभव से जाना कि दुःख भी सदैव नहीं रहता। अब मैं पुनः मुस्करा सकती हूं। यद्यपि अभाव तो है परंतु अब मैं मन और शरीर दोनों से स्वस्थ हो चुकी हूं और चाहती हूं कि मेरे जैसे सभी लोग इससे लाभान्वित हों। पूज्य गुरुजी, स. आ. डॉ. तारा जाधव और डॉ. रोही के प्रति अत्यंत कृतज्ञ हूं।

अमेरिका में पी-एच.डी. कर रही मेरी बेटी मुझमें आए परिवर्तनों से प्रभावित होकर वहीं मैसाचुसेट के 'विपश्यना केंद्र' पर जाकर साधना करना चाहती है। मैं भी वहां जाकर उस केंद्र पर साधना और सेवा का लाभ उठाऊंगी। फिलहाल शीघ्र ही एक और शिविर करना चाहती हूं। कृपया इस कृतज्ञ बेटी को आशीर्वाद दें।"

● लखनऊ में बैंक कर्मचारी दो शिविर किए हुए श्री शैलेंद्रकुमार अग्रवाल 'विपश्यना' पत्रिका पढ़ कर लिखते हैं, "७-११-९५ के अंक में **'चार आर्य सत्य'** के बारे में पढ़ कर सचमुच आंखों में आंसू आ गये। विपश्यना साधना द्वारा हम अपने दुःखों की गहराई में पहुँच सकते हैं और जिस दिन इन सत्यों को अनुभव से जान लेंगे उस दिन सचमुच असीम शांति और निस्तब्धता का बोध होगा।

इसी प्रकार **'नये जीवन के चालीस वर्ष'** पढ़ कर ज्ञान हुआ कि मनुष्य का एक जन्म मां के पेट से अज्ञानरूपी खोल में होता है और दूसरा जब यह खोल टूटती है तभी प्रज्ञा रूपी ज्ञान के प्रकाश से नया जन्म होता है याने तभी मानव जीवन सफल हो सकता है।"

● भिलाई से वि. के दो शिविर किये हुए आर. के. चौरे लिखते हैं, "प्रतिदिन नियमित दो घंटे अपने निवास पर साधना करता हूं। कभी सामूहिक साधना और एक दिवसीय शिविर भी कर लेता हूं। विपश्यना का पहला शिविर करने के बाद से ही मेरा 'पान खाना' छूट गया और मैं पूर्णतया 'शाकाहारी' हो गया। विपश्यना पत्रिका से बड़ी प्रेरणा मिलती है। कृपया इसे नियमित भिजवाते रहें। जैसे मुझे जीने का सही मार्ग मिला, ऐसे ही अनेकों का मंगल हो! सब का मंगल हो!"

● आकोट, अकोला से जनमित्र तोताड़े लिखते हैं, "पू. गुरुजी को श्रद्धाभाव से प्रणाम! आपकी प्रेरणा व आनुभाव से इसी जीवन में सद्धर्म को जानने का अवसर मिला। इससे पूर्व सब कुछ त्याग कर भिक्षु जीवन अपनाने पर तीन वर्ष के श्रामणेर जीवन में जो सुख-शांति नहीं मिली, वह इन दस दिनों में मिली। पिछले इन ५-६ वर्षों में मुझे जो अनुभव हुए उन्हें शब्दों में नहीं उतार सकता। मुझे जो सुख मिल रहा है ऐसे ही सब को प्राप्त हो, यही मंगल कामना है!..."

● नवलखा, इंदौर से श्री मानवमुनि लिखते हैं, "विपश्यना किसी संप्रदाय विशेष का धर्म नहीं है। यह तो मानव समाज के आत्म-कल्याण का मार्ग है। किसी जाति, संप्रदाय, वर्ग या देशविशेष का भी नहीं, बल्कि यह तो सारे विश्व के कल्याण का मार्ग है। जो एक बार भी विपश्यना शिविर में भाग लेता है, उसे धर्म का सही मार्ग मिल जाता है। विपश्यना कोई रूढ़िवादिता भी नहीं, वह तो अध्यात्म साधना का अनमोल रत्न है। जो भी विपश्यना करेगा उसे जीवन में वास्तविक सुख एवं आत्मानुशासन के आनंद की अनुभूति होगी ही।..."